

गीता जीवन में लायें



डॉ. संजय मालपाणी

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।18.66।।

इस श्लोक को पढ़ते समय अनेक प्रकार की आशंकायें मन में उठती हैं। क्या भगवान हमें अपने धर्म का त्याग करने को कह रहे हैं? क्या धर्म का त्याग करने पर पाप मुक्ति संभव है? क्या यही मोक्ष का मार्ग है? फिर जब भगवान संपूर्ण भगवद्गीता में धर्म की राह पर चलने की शिक्षा दे रहे हैं तो फिर अंतिम अध्याय में भगवान धर्म का परित्याग करने को क्यों कह रहें हैं? यह कैसा विरोधाभास है?

हम जिसे धर्म समझते हैं, वह हिंदू-मुस्लिम-क्रिश्चियन ऐसी धर्म की व्याख्या गीता को अभिप्रेत नहीं। धर्म का सीधा सा अर्थ कर्तव्य की राह पर चलना ऐसा है। जीवन के अन्यान्य पड़ावों पर अलग-अलग कर्त्तव्यों का निर्वाह मनुष्य को करना पड़ता है। विद्यार्थी धर्म, पुत्र धर्म, गृहस्थ धर्म, मातृ-पितृ धर्म, व्यवसाय धर्म, राष्ट्र धर्म इत्यादि धर्मों के पथ पर मानव चलता रहता है। एक बात यहाँ ध्यान में रखने की है कि हर धर्म के निर्वाह में अहंकार भी मन में प्रवेश करता है। जैसे विद्यार्थी धर्म के पालन में अच्छे गुण आते हैं तो अनायास व्यक्ति के मन में अहंकार आता ही है। परन्तु जहाँ अहंकार हो वहाँ प्रभु का अस्तित्व नहीं हो सकता। संत कबीर दास जी ने लिखा हैं-

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहीं।
प्रेम गली अति सांकरी, जामें दो न समाहीं ॥

मन की एक विशेषता है, उस में एक समय दो बातें नहीं रह सकती। विचार भी एक समय पर एक ही रहता है। जब एक विचार चला जाता है तभी दूसरा विचार अंदर प्रवेश करता है।

'प्रेक्षा' का अर्थ है, प्रेक्षक की भाँति देखना! बिना किसी प्रतिक्रिया के केवल अवलोकन करना। श्वास प्रेक्षा से विचारों की गति धीमी हो जाती है। संवेदन प्रेक्षा से हमें अपने शरीर में उठने वाली संवेदनाओं

के क्षणभंगुर होने का अनुभव मिलता है। इसके पश्चात् जब हम विचार प्रेक्षा करते हैं तब दो विचारों के बीच में एक शून्य होने का अनुभव प्राप्त होता है। इसी विधा को अष्टांग योगशास्त्र में धारणा कहा गया है। जैसे ही मन की शून्यावस्था की अवधि बढ़ती जाती है, वैसे ही उस खाली जगह में ईश्वर प्रणिधान करना, यही ध्यान का आरंभ है।

विचार ही विकारों को जन्म देते हैं। विकार पाप कर्म के लिये प्रवृत्त करते हैं। विचारों की गति के कम होते ही विकार कम होते जाते हैं। विचारशून्यता विकारशून्यता की पहली सीढ़ी है। जैसे ही मन का अहंकार कम होता है और शून्य मन में ईश्वर को प्रतिष्ठित किया जाता है वैसे ही शरणागति घटती है। पाप मुक्त बनने का यही सरल उपाय है। अंत समय में इस प्रकार मन शून्यावस्था में रहे, संवेदनाओं के क्षणभंगुर होने का तथा उनके प्रति कोई प्रतिक्रिया न देने का अभ्यास हो, तो शरीर की पीड़ा कष्टप्रद नही लगती। ऐसे में मन विमुक्त होकर आत्मा मोक्ष गति को प्राप्त होता है।

इस एक श्लोक में गागर में सागर भरा हुआ है। संपूर्ण भगवद्गीता योगशास्त्र है। सारे कर्म भगवान को अर्पण करते हुये फलाकांक्षा का त्याग करें तो मन में सदैव संतुष्टि की भावना बनी रहती है। सहज स्वीकार और समाधान ही योगी की पहचान होती है।

'संतुष्टः सततं योगी'

यह योगी का परिचय भक्तियोग में दिया गया है। इस विचार को सार्थक करने वाला यह श्लोक यदि जीवन में उतरता है तो जीवन का कल्याण सहज संभव है। इसीलिये गीता परिवार का यह घोष है -

'गीता पढ़ें, पढ़ायें, जीवन में लायें'

